अनुपस्थित लोग
भारतभूषण अग्रवाल

आधुनिक जीवन की वक्रताओं के फलस्वरूप व्यक्ति और समाज के त्रिभंग अंतर्मन को जितने सरल, सशक्त एवं सटीक भाषा-प्रतीकों में भारत जी ने अपनी कविताओं में रखा है, उतना अन्यत्र दुर्लभ है।

नयी कविता ने पूर्ववर्ती वायवीयता से विद्रोह किया था और उन आरंभिक विद्रोही कवियों में भारत जी भी रहे हैं। यह काव्य-संग्रह उनके विकासमान काव्य-सौष्ठव का प्रमाण है।

Purchased at Delhi
Feb. March 1987
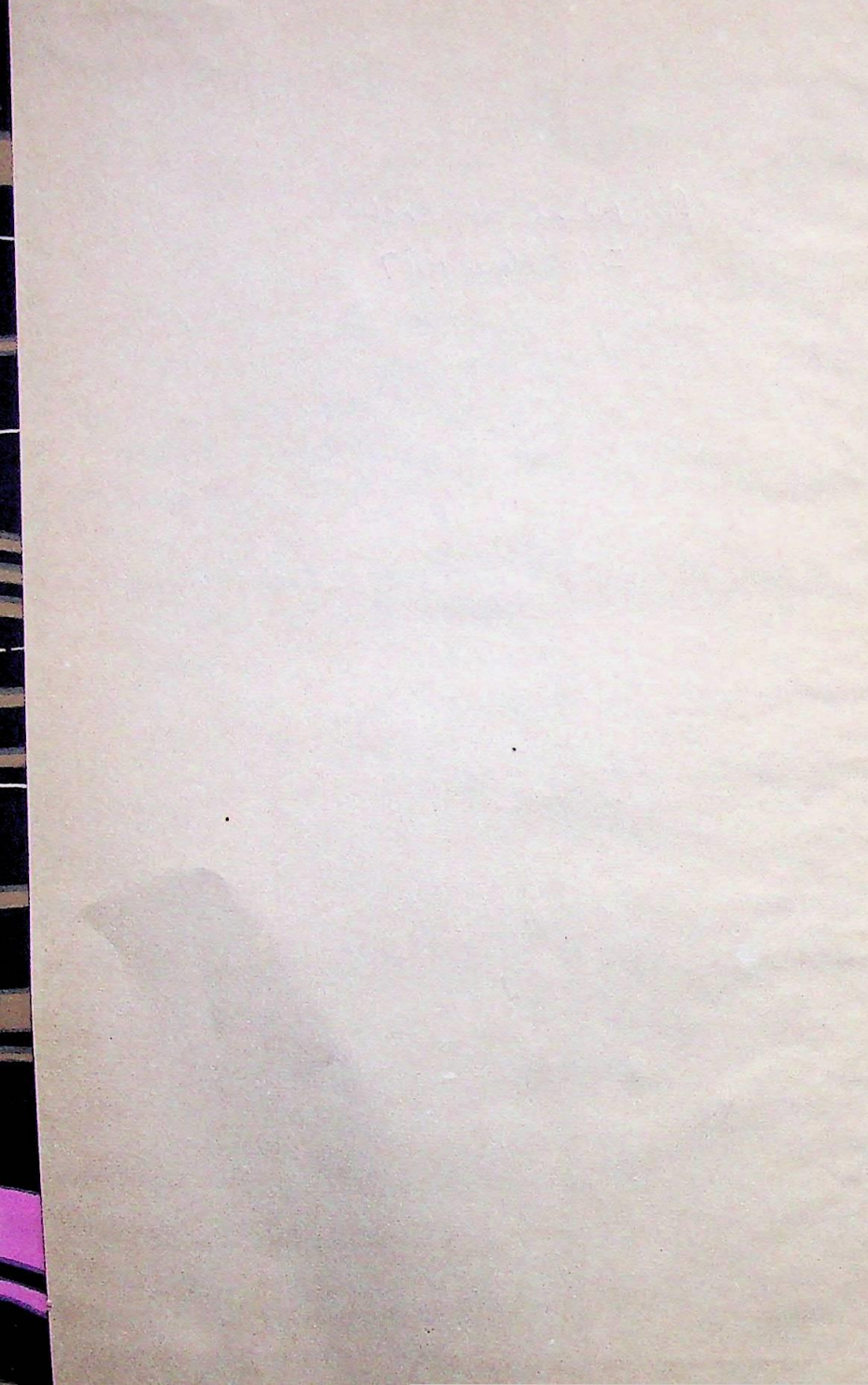
अनुपस्थित लोग

[कविताएं : १९५८-६४]

भारत भूषण अग्रवाल

लोकभारती प्रकाशन
१५-ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-१

प्रकाशक
लोकभारती प्रकाशन
इलाहाबाद
•
सर्वाधिकार
भारत भूषण अग्रवाल
•
प्रथम संस्करण : जनवरी, १९६५
•
भार्गव प्रेस
इलाहाबाद

मूल्य ४.००

भोपाल के साथी

श्री गिरिजा कुमार माथुर

को

सस्नेह

•

संकेत

•

•

अनुपस्थित लोग

अगत्या

•

लहराकर
छोटे-से ताल को संयोगवश
जो पुरवैया गई
और फिर लौटी नहीं.
उससे यह मेरा एक छोटा-सा प्रश्न है :
'ताल तो
अपनी अगति में विवश था,
पर ओ री !
तू क्या अपनी गति में भी विवश थी ?'

•

मुक्ति ही प्रमाण है

•

मैंने फूल को सराहा :
'देखो, कितना सुन्दर है, हँसता है !'
तुमने उसे तोड़ा
और जूड़े में खोंस लिया;

मैंने बौर को सराहा :
'देखो, कैसी भीनी गन्ध है !'
तुमने उसे पीसा
और चटनी बना डाली;

मैंने कोयल को सराहा :
'देखो, कैसा मीठा गाती है !'
तुमने उसे पकड़ा
और पिंजरे में डाल दिया;

एक युग पहले की बातें ये
आज याद आती नहीं क्या तुम्हें ?
क्या तुम्हारे बुझे मन, हत-प्राण का है यही भेद नहीं :
हँसी, गन्ध, गीत जो तुम्हारे थे
वे किसी ने तोड़ लिये, पीस दिये, कैद किये ?

मुक्त करो !
मुक्त रहो !—
जन्म-भर की यह यातना भी
इस ज्ञान के समक्ष तुच्छ है :
हँसी फूल में नहीं,
गंध बौर में नहीं,
गीत कण्ठ में नहीं,
हँसी, गन्ध, गीत — सब मुक्ति में हैं
मुक्ति ही सौन्दर्य का अन्तिम प्रमाण है !

•

खण्ड हूँ विराट् का !

•

थे

ऐसे भी दिन थे —
जब मुझे अपना लघु अस्तित्व
किसी विराट् का खण्ड-मात्र लगता था
और जिसमें मिलने को
मैं अनुक्षण विकल था;
मेरी वह विकलता ही
उन दिनों
गीत बन जाती थी !

है

आज यह दिन भी आया है —
जब मुझे रह-रहकर
अपने पुराने गीत
विकल बनाते हैं,
जब मुझे उस पूर्वाग्रह पर

करुणा हो आती है,
जब उस विराट् के
अनुक्षण पास आ रहे भीमकाय चरणों की चाप से
मेरे तन-प्राण तक सिहर-सिहर जाते हैं !

खण्ड हूँ विराट् का — संभव है, सत्य हो
किन्तु नहीं बिन्दु हूँ प्रवाह का
जिसका उद्दिष्ट हो समुद्र में समाना ही
और दूर रहना
मिट जाने के समान हो !

खण्ड भी हूँ तो किसी दर्पण का खण्ड हूँ
अपने लघु अस्तित्व में भी
मैं सार्थक हूँ, पूर्ण हूँ
लाख रहूँ छोटा, पर मुकुर हूँ पूरा ही
और
मेरे अनगढ़, कुरूप चौखटे में बँधी
जीवन की झाँकी जो,
पूरी है, अखण्ड है !

नहीं, नहीं, नहीं —

मेरे प्राणों में अनुक्षण
गूँजा करते हैं ये जो चरण विराट् के
प्रतिपल समीप से समीपतर
एक दिन ये चाहे बन जायें
मेरे विकराल काल,
मेरी परिणति ये नहीं हैं !
खण्ड-खण्ड मिलाकर
वह महा दर्पण भी चाहे फिर जुड़ जाय
मेरी लघु लीक किन्तु मिट नहीं पायगी,
और वह दर्पण भी
उस दिन
होगा बस संग्रह-भर
छोटी-छोटी अपने में पूर्ण प्रतिच्छवियों का —
उसमें जगेगा नहीं कोई एक महाकाय प्रतिबिम्ब
लीकें सब लीलकर !

मुझमें विराट् हुआ खण्डित : यह सच भी हो, तो रहे !
खण्डित है जो वह विराट् है
मैं तो सम्पूर्ण हूँ
अखण्ड हूँ ।
और मेरी विकलता ?
नहीं, वह नहीं है
विराट् के परस की चाहना —
वह उसके आसन्न परस की भीति है !

•

सही करता हूँ

•

मेरा अहंकार आज
भक्तों की भीड़ के द्रुत, अधीर चरणों से
कुचले हुए पूजा के फूल-सा
ध्वस्त, छिन्न-भिन्न है !

मेरा उद्गार आज
वर्षा बीत जाने पर उतरी हुई बाढ़ की
छोड़ी हुई रेत-सा ही
रूखा, रस-हीन है !

और मेरा प्यार आज
क्रुद्ध अध्यापक से अकारण पिटे हुए
निरपराध बालक-सा
शंकित, दमित है !

फिर भी तड़पता हूँ
प्यासा हूँ
गाता हूँ !

ग्रौर ये ग्रपने ग्रधूरे दर्दीले गीत
काँपती कलम से उतारकर
उस ग्रनागत के नाम सही करता हूँ
एक दिन जो
मेरे इस ग्रधूरेपन का मर्म पहचानेगा !
— नहीं, नहीं,
जो इस ग्रधूरेपन से ही जन्मेगा !!

●

गमले का पौधा

•

नख-शिख कटा-छँटा
काम्य अनुपात में
नियम के साँचे में ढला हुआ
सम्पूर्ण व्यक्तित्व —
हर बात, हर मुद्रा, हर क्रिया,
छोटी-से-छोटी भाव-भंगिमा
निर्धारित विधि के अनुरूप है !
सेवक तैनात हैं
समय पर भोजन खिलाने को
पानी पिलाने को
धूप से बचाने को
वर्षा से रिझाने को
वत्सल आकाश के दर्शन कराने को !

जब अतिथि आते हैं
मेरे पास लगी हुई चिट से

वे मुझे जान जाते हैं,
एक तिर्यक् दृष्टि से मुझे देख
गद्गद् मुग्ध भाव से कैसे मुस्कराते हैं
और फरमाते हैं :
'हाउ लव्‌ली
व्हाट ए स्वीट लिटिल थिंग !'
तब मुझ पर मानो एक सकता छा जाता है
मेरा अस्तित्व रुद्ध मन्यु से काँप-काँप जाता है
किन्तु आयु-भर के अनुभव-सिद्ध अभिनय से
चेहरा यह फूल-सा केवल मुस्कराता है !

खिड़की के बाहर खड़ा बंधु, पर, सत्य ताड़ जाता है ।
इस मुस्कराहट में कड़वाहट लक्ष कर
दक्ष आलोचक-सा
मुझसे पूछ बैठता है :
'बंधु मेरे, तुमको क्या कष्ट है ?'
और मैं निरुत्तर
मौन रह जाता हूँ ।
सचमुच, हाँ सचमुच ही,
मुझको क्या कष्ट है !
अविराम यत्नों से लालित हूँ शिशु-सा
पालित हूँ स्वर्गोपम क्रोड़ में
चिर-सजग प्रहरियों से प्रतिपल आरक्षित
मैं बँगले की शोभा हूँ
गमले का पौधा हूँ

मुझे भला कष्ट क्या ?

कष्ट ?
बंधु !
सच कहूँ ?
कष्ट अभी तुमने है जाना नहीं
देखा हो शायद कभी
— क्योंकि आलोचक हो —
पर अभी भोगा-पहचाना नहीं
अन्यथा क्या होता कठिन
तुम्हें इतना समझना —

मैं नहीं हूँ कागज की लुग्दी
या कि निरा पिण्ड प्लास्टिसीन का
मिट्टी का लौंदा नहीं
नहीं गले राँगे की धार हूँ
जिसे तुम साँचे में ढाल दो
मनमाना रूप दो, मनमानी चाल दो
और बित्ते-भर में सारा स्वत्व नापकर
नन्ही गुड़िया-सा
मैन्टिलबोर्ड पर बिठाल दो !

नहीं, मैं नहीं हूँ यह
यह तो है मात्र मेरा बुच्चा विकृत रूप
कृत्रिम परिवेश से घिरा हुआ
भूमि से विच्छिन्न
मैं तो वृक्ष का मज़ाक हूँ !

बूँद-बूँद के लिए पराई कृपा पर ग्राश्रित रहूँ

— मेरा स्वभाव नहीं

धूप-वृष्टि-झंझा में यत्नों का कवच ग्रोढ़ बैठूँ बंद कक्ष में

— मेरा कर्त्तव्य नहीं

ग्रपने रस-मूल को सीमा दूँ एक टुच्ची परिधि की

— मेरा पुरुषार्थ नहीं

घर को छाया देने के बदले

हाय !

घर की छाया में रहूँ ?

— मुझको धिक्कार है !

•

विश्वस्त साथी : डायरी का एक और पन्ना

•

विस्मित क्यों हुए बन्धु ! मुझे शान्त देखकर
मेरा अविचल भाव
सच मानें
मुद्रा नहीं है मेरे स्फीत अहंकार की
वह कोई पाहुन नहीं है आज का नया
युग-युग से वह मेरा घनिष्ठ है।

बचपन में हम दोनों साथ-साथ खेले थे।
मैं कुछ संकोची था
भीड़ से विलग मुझे एकान्त प्रिय था
संगी था बस एक-मात्र वही।
मेरे साथ वह सदा छाया की भाँति रहा —
घर पर, स्कूल में, रस्तों में, घाटों पर
मेले में, ठेले में, जीवन की सारी रेल-पेल में !

ग्रौर जब बड़ा हुग्रा मैं
तो वह मेरे साथ-साथ ही कॉलेज में भर्ती हुग्रा।
मेरी ही क्लास में
मेरे ही पास में बैठा करता था रोज़।
लड्डू गोपाल मेरे मन की भी रास सदा
उसके ही हाथ रही।
मेरे पहले मधु-सपनों के रंग
उसीके प्रभाव से गहरे या फीके हुए।
उसने जो पाठ मुझे इम्पौर्टेण्ट बतलाये
वे ही मैंने रटे थे।

युग बीत गए हैं ग्रब उस बात को।
देश ग्रौर देशान्तर घूमता
नाना कार्य, नाना वेश, नाना परिवेशों में
उलझता — सुलझता
ग्राज मुझे निश्चित ही लगता
कि मैं हूँ बहुरूपिया
यदि वह साथ नहीं होता मेरे प्रतिक्षण
मुझे ग्रपनत्व का ग्रटूट बोध देता हुग्रा।

इसलिए बंधु ! यह विस्मय गलत है।
ग्राप चौंकते हैं उसे मेरे पास देखकर

क्योंकि अभी परिचय नहीं हुआ आपसे
किन्तु वह मेरा अभिन्न है,
जीवन का एक-मात्र विश्वस्त साथी है,
दुःख उसका नाम है !

●

एक चिट्ठी का टुकड़ा

•

"....तुम्हें याद है :
मुझे अक्सर गुस्सा आ जाया करता था
और तुम्हें हमेशा
मेरे गुस्से पर प्यार आता था ?

"अच्छा हुआ
जो मेरी शादी
तुमसे न होकर एक डॉक्टर से हुई,
तुम्हें तो जनम-भर न सूझता
कि मुझे
'हाई ब्लड प्रैशर' की शिकायत थी !"

•

एक साक्षात्कार

•

तुम मुस्कराती हो
मैं मुस्कराता हूँ
तुम उदास होती हो
में उदास होता हूँ

— मूर्ख हूँ मैं
जो तुम्हारा दर्पण बन गया हूँ
दर्पण तो रूप का प्रमाण है
प्यार का पात्र नहीं !

•

कनाट प्लेस

•

गाड़ियों की घरघराहट
साड़ियों की सरसराहट
नाड़ियों की हरहराहट

•

मसिजीवी

•

वैसे तो हूँ मसिजीवी, पर
आता रहता हूँ टी० वी० पर
फिर भी हाय ! ज़रा भी मेरा
रौब नहीं पड़ता बीवी पर !

•

साथ हो जुलूस के !

•

हो गया, हो गया
खोने का जितना भी समय था, सब खो गया !
लहरों पर लहरों की बाढ़ अर्राती है
इसको सँभाल सके, अब किसकी छाती है ?
छोड़ दो, सारी संभावनाएँ छोड़ दो
सरकण्डे की यह पतवार ? तोड़ दो —
धारा है, प्रवाह है
कागज की नाव पर कब तक निबाह है !

सोचते हो — कौन से उपाय से बचोगे ?
बालू के ढेर से तुम सेतु रचोगे ?
धारा है, प्रवाह है
सोचो मत, सोचना गुनाह है !

चलो, उतरो इस धार में — व्यर्थ न विचार करो
तैरकर भुजाएँ क्यों थकाते हो ?
— डूबकर पार करो !
धारा है, प्रवाह है
आहों के मेले का हर तरफ उछाह है !

शामिल हैं आज सब आहों के मेले में
कोई, किसी का, पर, साथी नहीं रेले में —
हर घर घरौंदा है, जाने कब टूट जाय
हर सुख गुब्बारा है, जाने कब फूट जाय

छोड़ो ये गुब्बारे, उठाओ ऊँचा निशान
पहनो यह वरदी और गाओ समवेत गान
लैफ़्ट राइट, लैफ़्ट राइट — साथ हो जुलूस के
जहाँ भी समाये वहीं पैना सींग ठूँस के!

भूलो अब जय को
जयकारों के हो जाओ
भावों को भूलो, और
नारों के हो जाओ
नीड़ों से निकलो, और
भीड़ों में खो जाओ !

●

मैं, और मेरा पिट्ठू

•

देह से अकेला होकर भी
मैं दो हूँ,
मेरे पेट में पिट्ठू है।

जब मैं दफ़्तर में
साहब की घण्टी पर उठता-बैठता रहता हूँ,
मेरा पिट्ठू
नदी किनारे वंशी बजाता रहता है !
जब मेरी 'नोटिंग' कट-कुट कर 'रि-टाइप' होती है,
तब साप्ताहिक के मुख-पृष्ठ पर
मेरे पिट्ठू की तस्वीर छपती है !
शाम को जब मैं
बस के फुटबोर्ड पर टँगा-टँगा घर आता हूँ
तब मेरा पिट्ठू
चाँदनी की बाँहों में बाँहें डाले

मुग़ल गार्डेन्स में टहलता रहता है !
और जब मैं
बच्चे की दवा के लिए
'आउटडोर वार्ड' की क्यू में खड़ा रहता हूँ
तब मेरा पिट्ठू
कवि-सम्मेलन के मंच पर पुष्पमालाएँ पहनता है !

इन सरगर्मियों से तंग आकर
मैं अपने पिट्ठू से कहता हूँ :
भई, यह ठीक नहीं
एक म्यान में दो तलवारें नहीं रहतीं,
तो मेरा पिट्ठू हँसकर कहता है :
पर एक जेब में दो कलमें तो सभी रखते हैं !

तब मैं झल्लाकर आस्तीनें चढ़ाकर
अपने पिट्ठू को ललकारता हूँ —
तो फिर जा, भाग जा, मेरा पिण्ड छोड़,
मात्र कलम बनकर रह !
और यह सुनकर वह चुपके से
मेरे सामने गीता की कॉपी रख देता है !
और जब मैं
हिम्मत बाँधकर
आँखें मींचकर, मुट्ठियाँ भींचकर

तय करता हूँ कि अपनी देह उसीको दे दूँगा
तब मेरा पिट्ठू
मुझे झकझोरकर
'ऐफिशियेन्सी बार' की याद दिला देता है !

एक दीखने वाली मेरी इस देह में
दो 'मैं' हैं ।
एक मैं
और एक मेरा पिट्ठू ।
मैं तो, खैर, मामूली-सा क्लर्क हूँ
पर, मेरा पिट्ठू ?
वह जीनियस है !

•

बदली उदार

•

आज वृष्टि हो गई
बीज कल ही बोया था
छोटा-सा
मासूम
धड़कते दिल से डरते-डरते —
कहीं व्यर्थ ही जाय
भूमि की भूख इसे खा जाय
अन्त में हाथ न कुछ भी आय !

धन्य अरी रसमाती बदली !
ओ मनभावन !!
धन्य कृपा जो सहज पधारीं ठीक समय पर !
खाली हाथ पसारे पड़ा हुआ था यह छोटा-सा बीजा
धन्य, कि इसको देख तुम्हारा कोमल हृदय पसीजा—
अपने रस से इसे न्हिला दो

गीतों के जादू से इसके प्राण खिला दो —
किसी कठोर जिन्न के वश में
पत्थर बनकर पड़े हुए शहजादे-सा ही
यह हरहरा उठे पल झपते !
और फूलकर पा जाये फिर अपना सौरभ !!

फूलों का वह गन्ध भार
मैं सार्थक करूँ तुम्हें अर्पित कर
बार-बार
बदली उदार !

•

माध्यम : आवाज

•

पेड़ पर बैठी हुई चिड़ियों की चहचहाहट में
और
बर्फ़ी पर बैठी मक्खियों की भनभनाहट में
फ़र्क है !

कल-कल कर बहती हुई नदिया की तान में
और
धड़धड़ाती रेल के चीखते आह्वान में
फ़र्क है !

नृत्य-रता बाला के चरणों की थाप में
और
बूटधारी सैनिक की सधी पद-चाप में
फ़र्क है !

रस-भरी बदली की मंद्र गड़गड़ाहट में
और
अलार्म घड़ी की तीखी टनटनाहट में
फ़र्क है !

यदि तुम्हें वह पैमाना मिल जाये
जो इस फ़र्क को नाप सके
तो तुम्हें
मेरी और अपनी दूरी का
कुछ अन्दाज़ मिल सकता है !

●

स्मरण तेरा

•

स्मरण तेरा
प्राण में मेरे जगाता है
पुलक के सौ-सौ सवेरे
प्यार मेरे !

वरण तेरा
तोड़कर पाषाण-कारा
बहायेगा हर्ष के निर्झर घनेरे—
और यह अस्तित्व
फिर धुलकर, निखरकर
बनेगा अपरूप
मेरे रूप !

•

धुकधुकी जब रुकी

•

धुकधुकी जब रुकी
ओठों पर झुकी
जब प्यास मधु की
हाय, वह क्षण एक —
काल-माला का सलोना रंग-मनका !

जिऊँगा मैं —
करोड़ों-अरबों-अमित ये क्षण
माला के असंख्यक अन्य दाने
जपूँगा —
जिससे कि लौटे वही मनका
रंग तन के रंग मन का !

•

आश्वस्ति

●

तुम मुस्कराती आई थीं
मुस्कराती गईं।

— आश्वस्त हूँ मैं
कि मैंने
तुम्हारे ओठों का गुलाब
तोड़ा नहीं,
चाहा था!

●

रूप-दर्शन

•

लो, घुमा दो पात्र
मेरी रूपसी !
छक जायँ ये प्यासे युगों के;

दृष्टि में तेरी
अमृत की किरण है
खोल दो पलकें
कि हँस दें
आज मुरझाये कमल-वन !

रंग-कुसुमों से भरा मालंच-तन
बन जाय नर्तन की लहर —
डूबने दो चेतना के कूल
सौरभ की उमड़ती धार में !

तुम जगो आदिम उषा-सी

प्राण-तट पर

रूप-दर्शन

रस बने सूखी जड़ों में !

●

हो तो सकता था…

•

हो तो सकता था….
हो तो बहुत कुछ सकता था

— यह धूप में तपती दोपहर
बादल-भरी साँझ हो सकती थी;
— ट्रैफिक की रौंद से कराहती यह सड़क
तरंगायित झील
और यह बस-स्टैण्ड
झील का किनारा !
— तुम्हारे हाथ में
इस वेनिटी बैग की जगह
गीतों की सुराही हो सकती थी
और मेरे हाथ में
इस फाइल की जगह
सपनों की पिटारी !

हो तो सचमुच बहुत कुछ सकता था !

हो तो यह भी सकता था
कि तुमने
सिनेमा के टिकिट न खरीदे होते
श्रौर मुझे
भूख न लगी होती !

हो तो...

पर नहीं,
मैं कृतघ्न नहीं बनूँगा —
हम तक श्राकर
जो क्षीण रेखा बन गई है
श्रनुभूति की उस धार से मिली
इस एक बूँद पर
शिकायत नहीं करूँगा ।
हो तो यह भी सकता था
कि मैं इस स्रोत में नहा लेता
डुबकी लगाता,
पर

जो हुआ
—पल भर ही सही,
सिक्त जिस कण ने
निर्मल समर्पण के जिस विविक्त क्षण ने
अभी मुझे छुआ —
उसे क्यों झुठलाऊँ ?
प्यास से जलते इस कण्ठ में
जो हलचल मची है
उसे क्यों दबाऊँ !

•

सन्नाटे का दर्पण

•

खामोश, सहमी श्रौर सिमटी
तुम कैसी चुपचाप मेरे साथ चल रही हो
इस सुनसान पगडण्डी पर !
साँझ के महीन झुटपुटे में
तुम्हारी श्राँखें झुकी चली जा रही हैं,
उनकी वह छलकती चमक कहाँ है
जो रेस्त्राँ की टेबिल पर
मेरा निमंत्रण बन गई थी ?

तुम्हारी यह चुप्पी
यह उदासी
यह ढील
मन की किस मुद्रा की छाप है ?
श्रथवा
यह झिझक है

अपने आापसे अचानक आँखें मिल जाने की ?

क्योंकि

भीड़ में जीने के अभ्यस्त मन को

यह सन्नाटा

वह दर्पण है

जिसके सामने हम निरावृत खड़े होते हैं !

●

सूर्य से अपील

•

शून्य के यात्री को
अन्तरिक्ष में एक व्यक्ति मिला,
तप्त स्वर्ण का-सा उसका वर्ण था।
देह थी कि लपट — कहना कठिन था।

ज्योति की भाषा में
उसने शून्य-यात्री से पूछा :
'कौन हो तुम ?
यहाँ कैसे आये ?'

अंतरिक्ष-यान की खिड़की से
अपना मुस्कराता चेहरा निकालकर
शून्य-यात्री बोला :

'मैं पृथ्वी का प्रतिनिधि हूँ,
सैर को निकला हूँ ।'

लपट ने चौंककर कहा :
'क्या तुम्ही हो पृथ्वी के प्रतिनिधि
मनु के वंशधर ?
चलो, अब जान में जान आई
न जाने कब से तुम्हें खोज रहा हूँ !'

शून्य-यात्री जैसे आसमान से गिरा
(वैसे वह फिर भी आसमान में ही रहा)
बोला :
'आप मुझे क्यों खोज रहे थे ?'

लपट ने कहा :
'अनन्त युगों पहले की बात है,
तब तुम तो क्या
तुम्हारे मनु का भी पता न था,
हमारे राजा सूर्य देव ने
पृथ्वी नामक ग्रह बनवाया था ।
युगों तक वह ग्रह खाली पड़ा रहा,

फिर सूर्य देव ने उसे अपना चिड़ियाघर बना डाला।
कुछ युगों बाद
एक दिन अचानक
मनु ने वह ग्रह 'औक्युपाई' कर लिया।
तभी से
मैं राजाज्ञा से
मनु के प्रतिनिधि को खोज रहा हूँ
ताकि ग्रह में रहने का किराया वसूल करूँ।'

किराये के नाम पर शून्य-यात्री सहम गया
और इस बार वह सचमुच आसमान से गिरा।
आनन-फानन में बात सर्वत्र फैल गई
और
सन्तों की वाणी ने जहाँ मुँह की खाई थी
युग-युग की सद्भावना भी जो न कर पाई थी
विश्व की वह एकता
किराये की समस्या ने संभव कर दी —
सूर्य देव के प्रति माफ़ी की अपील ड्राफ़्ट करने को
प्रथम विश्व-सरकार का गठन हुआ !

•

अनुपस्थित लोग

•

लजाओ मत सुन्दरी !
तुम
मैं
तुम और मैं —
और यहाँ कौन है ?

आस-पास बैठे ये लोग
जिनकी छिटपुट बातचीतें मिलकर
रेस्त्राँ का शोर बन गई हैं;
थके अलसाये ये साज़िन्दे बैण्ड के
जो धड़ल्ले से बजाते हैं
और ऊबकर रुक जाते हैं;
सरसराती सफेद बुर्राक पोशाक में कसे
ये बैयरे, ये वेटर
जो चाभीदार खिलौनों-से

चलते, झुकते या थमते हैं;
ये सब-के-सब
यहाँ नहीं कहीं और हैं—
लजाओ मत !

हाँ,
यहाँ नहीं
कहीं और।
देखो न,
सामने बैठा वह बाबू
अपने 'बौस' के किस्से सुना रहा है,
वह यहाँ नहीं, दफ़्तर में है।
एक वही नहीं
चारों तरफ के ये अनगिनती लोग
अपने दफ़्तरों को साथ लिये
खाते-पीते, सोते-जागते, हँसते-रोते हैं —
इन्हें दफ़्तरों से मुक्ति दे वह दफ़्तर अभी नहीं बना।
और ये कॉमरेड ?
ये यहाँ नहीं
ये चीन या रूस में हैं;
ये जर्नलिस्ट
किसी वी आई. पी. की प्रैस-कॉन्फ्रैन्स में हैं;
ये प्रोफैसर
टैक्स्ट बुक कमिटी में हैं,

ये बिज़नैसमेन
इन्कम टैक्स के वकील के यहाँ हैं;
ये संसत्सदस्य
अभिनन्दन-समारोह में हैं;
वह देवी जी
अपनी पड़ौसिन के यहाँ हैं;
और यह शोख कुमारी
जिसका पल्लू रह-रह लहराता है
सिनेमाघर में है !

कितने खुशकिस्मत हैं हम !
जो एक-दूसरे की आँखों में हैं
अकेले हैं,
और यहाँ हैं—
इस क्षण में
इस टेबिल पर !

•

मुक्ति

•

नहीं,
मैं जेल में नहीं था —
अपने ये पिछले पच्चीस वर्ष
— जिन्होंने मेरी उम्र को पैंतालीस पर ला पटका है —
मैंने किसी बन्द कोठरी में नहीं बिताये,
किसी सीलन-भरी बदबूदार कोठरी में —
जहाँ खड़े होने पर सिर छत से टकराता हो
और
लोहे के सीखचों को पकड़कर
सामने आसमान के टुकड़े पर आँख गड़ाये
'तुम्हारी आँखों का आकाश
खो गया मेरा खग अनजान'
गाने की तबियत करती हो,
जहाँ ६ × ४ के फर्श पर
असमर्थ साँसों की फुफकार छोड़ता
मैं विक्षोभ में भरकर
दाँती मींचकर, मुट्ठियाँ भींचकर

मुक्ति की उत्कण्ठ प्रतीक्षा में
लम्बे-लम्बे दिनों को पलों में बाँटकर
प्रतिपल चौंक-चौंक उठता रहा होऊँ,
और जहाँ की चूने-झड़ी दीवार पर
उँगलियों के नाखूनों से लकीरें खींच-खींचकर
अपने को याद दिलाना पड़ता हो
कि कैलैण्डर की एक तारीख और खिसक गई,
जहाँ अगल-बगल की कोठरियों में बन्द
अपरिचित भुक्त-भोगियों के उठने-बैठने-कूदने-पड़ने
की बेतरतीब आवाजें
सामूहिक परवशता का भाव जगाती हों,
और
जहाँ बाहर की सारी दुनिया
दूर सड़क पर गुजरने वाली गाड़ी का हॉर्न बन जाती हो !

नहीं, ऐसा कुछ नहीं हुआ,
मैं जेल में नहीं था।
हाँ, मैं जेल में नहीं था
कि आज
पच्चीस वर्ष बाद
अपने घर के कमरे में मेज़ पर बैठकर लिखते हुए
भाई-बन्दों और रिश्तेदारों से मिलते हुए
गली के नुक्कड़ के तमोली से
छिद्दा हलवाई से
करीम तस्वीर-साज़ से

श्यामलाल कागजी से
बिशना अत्तार से
गिरिधर सुनार से
बुद्धिमल मुनीम से
शंकर पुजारी से
छीपी घसीटा और सेवक बजाज से
लछमन पण्डा और राधेश्याम वैद्य से
यानी
हौले-हौले फैलते-फूटते
कस्बे से बढ़कर नगर बन जाने वाली अपनी जन्मभूमि के
अनगिनती परिचितों से बोलते-बतराते हुए
मुझे अहसास हो
कि ये जीवन की धारा में प्रतिपल नहाते रहे
जब कि मैं किनारे की रेतिया पर तड़पता-टीसता रहा।
या
जिसे पाँच वर्ष का छोरा छोड़ गया था
उसे अब दूकान पर बैठे जिन्स तोलते देखकर
या
छबीली मिसरानी को लाठी के सहारे चलते पाकर
मैं बेसाख्ता कह उठूं :
इन्होंने सब-कुछ भर पाया है
और मैं
शुरुआत करने की सोचता ही रह गया !

नहीं,
मैं जेल में नहीं था ।
अपने इन पिछले पच्चीस वर्षों में
अन्धड़-से झपटते इन अधीर चरणों के वामन डगों से
मैंने इस अछोर धरती के चारों खूँट खूँदे हैं
और
इन पर जमी पश्चिम की रेत को
पूरब - समुद्र की लहरों से धोया है,
उत्तर की ठण्डी हवाओं की सिसकारी
दक्षिण-तटों के ताल - वृक्षों को सुनाई है !
चलता रहा हूँ मैं —
बढ़ता रहा हूँ मैं आठों याम बिजली की गति से
प्रतिपल तल्लीनता से आकण्ठ भरा हुआ
व्यग्र और बेचैन
मानो यदि हाथ का प्याला अभी न पिया
तो एक क्षण सदा को अनजिया रह जायगा —
मन के तुरंग पर
संकल्प की चाबुक फटकारता
ताबड़तोड़
अनुभव के बीहड़ पथों पर टपाटप दौड़ता ही रहा हूँ !
असमर्थता की कोई दीवार मैंने कब जानी ?
विक्षोभ के सींखचों को मैंने कब झकझोरा ?
मार्ग के अपार भीड़ - भम्भड़ को चीरता
अपनी तेज़ दृष्टि को सामने गड़ाये हुए
निरन्तर दौड़ता
मैं अल्हड़ से अधेड़ हुआ हूँ !

तो फिर क्यों आज
जब पच्चीस वर्ष बाद मैं यहाँ आया हूँ
आराम करने या अवकाश लेने नहीं —
मन के तुरंग की एक टाप आँकने,
छोटे-छोटे दायरों में बन्द
इन तृप्त-काम परिणति - प्राप्त व्यक्तियों को देखकर
मुझे यह लगता है
कि मेरा यह दीर्घ और विस्तृत अभियान
मानो किसी ६ × ४ के ही घेरे की परिक्रमा थी,
मानो
अपने हाथों की सख्त मुट्ठियों में जिसे
मैं कसकर पकड़े हूँ
वह कोई ध्येयपूर्ण संकल्प नहीं —
लोहे की सलाख है,
मानो आज पच्चीस वर्ष बाद
मैं
किसी जेल के सीखचों से बाहर आया हूँ ?

ध्येय ?
नहीं जानता, तुम्हें मैं अब क्या कहूँ ?
पुकारूँ भी यदि तुम्हें तो अब किस नाम से ?
या कि तुम्हारा कोई नाम है भी या नहीं,
था कि तुम कोई कुछ थे भी अथवा नहीं,
हाँ, सच, मैं आज नहीं जानता —
किन्तु आज लगता है

कि मेरे इस कर्म-व्यस्त जीवन का प्रतिपल
मैंने नहीं,
मानो किसी और ने ही जिया है !
मैं तो मानो उससे नितान्त भिन्न और दूर
तुम्हारी किसी सीलन-भरी बदबूदार कोठरी में
पच्चीस वर्षों तक कैद था !

तो फिर, लो, आज
इस यमुना के तट पर
अँजुरी में भर के पवित्र - जल
तिल-कुश करता हूँ अर्पण मैं तुमको
और फिर
आखिरी संकल्प बाँचता हुआ
सहज स्फूर्ति-भरे मन से उचारता हूँ :
मुक्त हूँ
मैं मुक्त हूँ
मैं आज पच्चीस वर्ष बाद
पहली बार मुक्त हूँ !

•

बापू (श्री सियारामशरण गुप्त) के स्वर्गवास पर

•

बरगद की छाया में उगकर
आजीवन
बौने बने रहने की नियति को
वरदान मानकर सिर माथे ले लेना
कितनी महानता -
मुझे छोड़ इसका मर्म और कौन जानेगा ?
जिसने खुली धूप, खुले आसमान के तले
पौधा बने रहकर भी
तारों को जीभ बिराई है !

•

२९-३-६३

टेर उठी मोर की

•

छत की मुँडेर पर टेर उठी मोर की
बादल घिर आया आसमान में
नाच के सजाव में थिरके रँगीले पंख
झूम उठीं डालियाँ बगान में
आया, रस आया रे !
आया, मन भाया रे !
लहरों का रास छिड़ा, दूबों में छाया रे !
डोल उठी पुरवैया जहान में !

टेर नहीं बिजली का बटन है
दाबा, और चपरासी बादल चट हाज़िर हो !
मोर नहीं संकट-ग्रस्त देश का नेता है
जिसकी पुकार पर 'फौरेन-एड' लिये
बादल विदेशी राजदूत-सा प्रकट हो !
टेर नहीं ओजस्वी कविता है गीतकार कवि की

सुनके जिसे मचली हो लहरों की जिन्दगी
बादल नहीं शासित है 'गाइडेड मिसाइल'-सा
जिसे इसी ठौर पर उतरना था लाज़िमी !

मोर और बादल का
टेर और रस का
सम्बन्ध नियंत्रित नहीं है 'प्रोटौकौल' से ।
बस, मन की मौज पर टेर उठा मोर था
भटकता हुआ मेघ यों ही यहाँ आ गया,
पुरवा लहराई थी अन्तर के राग से
अपने-आप झनके थे दूबों के घुँघरू !

कितना सहज है यह प्रकृति का व्यापार
—जादू की छड़ी है यह सहजता
छूते ही सबको रँग देती है
एक महा रंग में !

टेर मेरी बन जाये मन की मौज, मोर-सी
भटकूँ भी मैं तो रस बरसाऊँ, बादल-सा
मेरे तन-प्राण को भी छू दे इस सहज के जादू से
ओ रे जन-देवता !

●

एक ख़याल : सिगरेट के बहाने से

•

माचिस की तीली में
जैसे आग बन्द है
वैसे ही मन में तुम्हारा प्यार !
— अब जब तुम मिलोगे
तो मैं जल नहीं उठूँगा,
मज़े से सिगरेट पियूँगा,
और तीली को
फूँक मार
बूट से कुचल दूँगा !

•

वे और मैं

•

वे
कितने अभागे थे
जयदेव, चण्डीदास, घनानन्द —
जिनकी प्रमिकाओं को
यह भी पता न था
कि वे काव्य रचते थे !

मैं
कितना भाग्यवान हूँ
कि तुमने मेरी कविताएँ
सिर्फ पढ़ी ही नहीं हैं,
उनमें तुमने
पिंगल की भूलें भी निकाली हैं !

•

एक सोच : भविष्य के बहाने से

•

कभी-कभी मैं सोचता हूँ :
हम हिन्दी का भविष्य कैसे बना पायँगे
हम
जो आज तक
एक भी ऐसी पुस्तक न छाप सके
जिसमें व्याकरण और मुद्रण की
भूलें न हों !

•

दुहाई है !

•

कॉफी-हाउस में कल मिले प्राध्यापक जो,
बोले :
आप तीन काम कर दें
तो हम नई कविता को मान लें;
एक तो, आप अपनी कविता का
नाम स्थिर कर दें —
प्रयोगवाद, नकेनवाद, नई कविता, अभिनव काव्य —
अभी बड़ी गड़बड़ है।
दूसरे, अपनी कविता के
मुख्य तत्त्व बखान दें;
देखिए न, छायावाद के तीन प्रमुख तत्त्व थे :
(१) स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह था
(२) अतीत के प्रति सतृष्ण दृष्टि थी
(३) प्रतीकात्मक व्यंजना थी
और तीसरा काम यह करें :
अपनी कविता के कुछ श्रेष्ठ उदाहरण चुन दें
ताकि आपके ये तत्त्व सिद्ध हो जायें।

मैंने हँसकर कहा :
आपकी बात पर एक कहावत याद आई है :
'लाद दे, लदा दे, लादने वाला साथ दे !'

काव्य के नगर प्राध्यापक की दुहाई है !

•

नई दिल्ली का प्रकृति-वर्णन

•

प्रात-वर्णन

मिल का साइरन
न जाने कब का चुप हो गया,
मिल्क-सप्लाई-बूथ की क्यू
छँटते-छँटते गायब हो गई,
जगह-जगह मोड़ पर खड़े बच्चे-बच्चियों को
स्कूली बसें कभी की ले जा चुकीं,
हमेशा लेट आने वाला पड़ोसी का हॉकर
डेली पेपर देकर जा चुका,
पर 'वन्दना' प्रोग्राम में
तलत महमूद की कव्वाली सुने
काफी मिनट गुज़र गए,
उठो, डार्लिंग, उठो
खानसामा तीसरी बार चाय बनाकर लाया है !

रात-वर्णन

बाज़ार के नियोन-साइन एक-एक कर बुझ चुके ।
सिनेमाघरों के सामने
कारों और टैक्सियों की कतारें अब कहाँ हैं ?
रेडियो सीलोन के फिल्मी गीत खत्म हो गए,
आकाशवाणी से मौसम का हाल भी प्रसारित हो चुका,
पड़ोसी के यहाँ डिनर में आये अतिथि
एक-एक करके विदा ले चुके,
सामने
इम्तहान की तैयारी में पेपरबैक पढ़ने वाली
किशोरी के कमरे की लाइट भी न जाने कब की बुझ गई,
डी० टी० यू० की आखिरी बस की घरघराहट
थोड़ी देर पहले सुनी थी,
यह लो,
दूर के गुरुद्वारे से
माइक पर अखण्ड-कीर्तन की ध्वनि आने लगी !
आज क्या सारी रात नींद नहीं आयेगी ?

•

दूँगा मैं

•

दूँगा मैं।
नहीं, नहीं हिचकूँगा
कि मेरी अकिञ्चनता अनन्य है
कि मैं ऐसा हूँ कि मानों हूँ ही नहीं,
हाँ, नहीं हिचकूँगा
कि तुम्हें तृप्त कर पाऊँ : मुझमें सामर्थ्य कहाँ
कि अपने को निःस्व करके भी
तुम्हें बाँध नहीं पाऊँगा,
और नहीं सोचूँगा यह भी
कि आखिर तो तुम मुझे छोड़ चले जाओगे
जैसे नदी का जल
ढहों को तोड़कर
छोड़ चला जाता है,

सोच छोड़
हिचक छोड़

दूँगा मैं।

देता हूँ।

लो

यह लो

ओ तुम अनजाने अतिथि आज-भर के !

लो यह पराग

अपनी लघुता में जो निरा अदृश्य है

पर जिसे देकर

मेरी पंखुरियाँ खाद बन जायँगी,

लो यह राग

जो अपनी अशक्ति में मात्र गुनगुनाहट है

पर जिसे देकर

ये मेरे ओठ समाधि बन जायँगे,

लो यह आग

जिनकी चिनगी में जलन तो क्या

ताप भी नहीं

पर जिसे देकर

यह मेरी अस्थि विभूति बन जायगी,

लो
मैं देता हूँ
अपना पराग-राग
आग यह अपनी
जो मैं हूँ,
जो मेरा सर्वस्व है
(पर जो नगण्य है)
बेहिचक देता हूँ
मुट्ठी पर मुट्ठी भर अपने को रीता कर देता हूँ —
लो तुम
ओ अतिथि !
यह सेवा स्वीकार करो
भूलकर कि इससे तुम्हारा काम नहीं चलने का ?

देता हूँ
क्योंकि तुम मेरे द्वार आए हो
और मेरे पास है देने को अपनापन,
देता हूँ
क्योंकि मैं जानता हूँ
कि तुम मुँह-अँधेरे से
इस गली के घर-घर के द्वार पर
दस्तक दे-दे कर थक गए हो —
भीतर थी चहल-पहल, राग-रंग-गूँज समारोह की
पर किसी ने सुनी नहीं तुम्हारी वह खटखटाहट

क्योंकि सबने सोचा कि तुम तो भिखारी हो
दीन-हीन याचक
परोपजीवी;

पर मैं पहचानता हूँ
कि तुम अतिथि हो
तिथि से परे हो
इतिहास हो !

दूँगा मैं ।

●

चाहता हूँ

•

चाहता हूँ पेड़ बनना
— ज्यादा नहीं, बस दो-एक दिन को —
ताकि मैं जान सकूँ
कैसा लगता है :
कैसा लगता है जब
अन्तिम प्रस्फुटन के फूल
एक-एक कर
झरने
लगते
हैं !

•

बाड़े के बाहर

•

झाड़ झंखाड़ सब साफ किये,
मिट्टी को समान कर क्यारियाँ बनाई
और
कम्पनी से मँगाकर कीमती अनेक बीज बो दिये,
खाद-पानी-यत्न से रात-दिन सेवा की —
पर, हाय,
अंकुर न फूटा एक !
सारे बीज इंतज़ार बनकर ही मिट गए ।

और तभी
बाड़े के बाहर जब एक दिन दृष्टि गई
चौंककर रह गया मैं देखता :
रंग-बिरंगे फूल झूलते थे चारों ओर
झाड़-झंखाड़ में !

तो क्या उस कूड़े के ढेर में ही
सच्चे बीज छुपे थे ?

•

रुकी हुई धड़कन यह काल की

•

ओ रे युग-सारथी !
जब तुमने मुट्ठियाँ ढीलीं तो सारी गति बन्द हुई !

अचानक
सब शोर थम गया ।
जैसे बिजली फेल होने पर
फैक्ट्री की मशीन हों
ऐसे हर व्यक्ति, हर यान, हर वाक्य
जहाँ था वहीं पर सहमकर जम गया ।

राजधानी अब मानो एक स्टिल-चित्र है ।
बढ़ा हुआ हाथ और उठा हुआ पैर
अभी काँपता भी नहीं है

चेतना को स्नायु बनने में अभी देर है
अभी तो रुकी हुई धड़कन यह काल की
भंजित है पूर्व और पर से—
आज दीख पाया है पहली बार जड़ वह
जिसकी तुलना में जीवन
जीवन कहलाता है !

जड़िमा का क्षण वह
बीतने के पहले बोध दे गया।
तब हाथ काँपे
पैर लड़खड़ाए
फोन की घण्टियों में छातियाँ धड़क उठीं !

अन्त में आँसू की बूँदें
लाईं यह विस्मय का भाव—
अरे ! बापू के बिना भी हम
सत्रह वर्ष जी गए !

●
२७-५-६४

विदेह

•

आज जब घर पहुँचा शाम को
तो बड़ी अजीब घटना हुई
मेरी ओर किसी ने भी कोई ध्यान ही न दिया
चाय को न पूछा आके पत्नी ने
बच्चे भी दूसरे ही कमरे में बैठे रहे
नौकर भी बड़े ढीठ ढंग से झाड़ू लगाता रहा
मानो मैं हूँ ही नहीं—

तो क्या मैं हूँ ही नहीं?

और तब विस्मय के साथ यह बोध मन में जगा :
अरे, मेरी देह आज कहाँ है ?
रेडियो चलाने को हुआ—हाथ गायब हैं
बोलने को हुआ—मुँह लुप्त है

दृष्टि है परन्तु हाय ! ग्राँखों का पता नहीं
सोचता हूँ—पर सिर शायद नदारद है
तो फिर—तो फिर मैं भला घर कैसे ग्राया हूँ ?

ग्रौर तब धीरे-धीरे ज्ञान हुग्रा :
भूल से मैं सिर छोड़ ग्राया हूँ दफ़्तर में
हाथ बस में ही टँगे रह गए
ग्राँखें ज़रूर फाइलों में ही उलझ गईं
मुँह टेलीफोन से ही चिपटा-सटा होगा
ग्रौर पैर हो-न-हो क्यू में रह गए हैं—
तभी तो मैं ग्राज घर ग्राया हूँ विदेह ही !

देह-हीन जीवन की कल्पना तो
भारतीय संस्कृति का सार है
पर क्या उसमें यह थकान भी शामिल है
जो मुझ ग्रंगहीन को दबोचे ही जाती है ?

●

तो ?

•

ज़िन्दगी अगर एक चारपाई होती
कि रात को बिछा ली
और दिन में खड़ी कर दी,
और जब ट्रान्सफर हुआ
तो बान खोलकर
पाये-पाटी उखाड़कर
बोरे में भरी और साथ ले गए—
तो....?

पर इस 'तो' के उत्तर से फायदा ?
क्योंकि ज़िन्दगी चारपाई नहीं है ।

•

स्थगित

•

फूल ?

हाँ, फूल भी होंगे ही—

कह नहीं सकता, पर संभव है,

छायादार पेड़ भी रहे हों किनारों पर

शायद मिले हों कुछ नदी-नाले-झरने

('थे मुझे जो पार करने' : निराला)

उनके अस्तित्व ने पर मुझे छुआ नहीं

ठिठकूँ या सुस्ताऊँ—मुझसे हुआ नहीं।

मंज़िल अभी दूर है

अभी मेरी आँखें, मेरे हाथ-पैर-कान-नाक

मेरा सर्वाङ्ग एक उठा हुआ डग है

वामन के अनथापे तीसरे कदम-सा—

फूल-रंग-छाया-जल

मेरी चेतना में अभी ये सब स्थगित हैं

अभी मैं वर्तमान हूँ—क्षण हूँ !

•

बोलता हूँ !

•

खोलता हूँ

मुट्ठी यह
जिसमें था बन्द एक अवकाश
खोखले अहम् का,
स्नायुओं का वह तनाव
जिसको मैं शक्ति समझ बैठा था
पर जो मुझे
खाता ही रहा है प्रत्येक पल,
कोमल अँगुलियों का उद्धत स्वरूप वह
जिसे तुम चुनौती मान बैठे थे
किसी सिरफिरे द्रोही की

खोलता हूँ ।

डोलता हूँ

भावों के भँवर में

कि अन्धड़ को जड़-समाधि झेल नहीं पायेगी
स्थितप्रज्ञता की यह मीनार
टूट बिखर जायेगी,
दूब-ता ही कवच है झंझा के झोंकों में
डोलता हूँ।

बोलता हूँ
कब तक यह सोचूँगा कि मेरा स्वर हीन है
और निस्तब्धता का यह पिरामिडी प्रसार
मेरे बस का नहीं,
कब तक प्रतीक्षा करूँ संगी संगीतकों की
कि आएँ वे गाजे-बाजे के साथ
और
स्वर-दान करें वाणी के यज्ञ में ?
जानता हूँ, शून्य नहीं शून्य है अविभाज्य
उसमें समाई हैं कितनी बेहोश ध्वनि-राशियाँ
स्वर के छिड़काव से जो संजीवित होंगी
और कहारों की भाँति उसे
गूँज की पालकी में बिठाकर
दिशाओं की यात्रा करायेंगी,
बोलता हूँ !

•
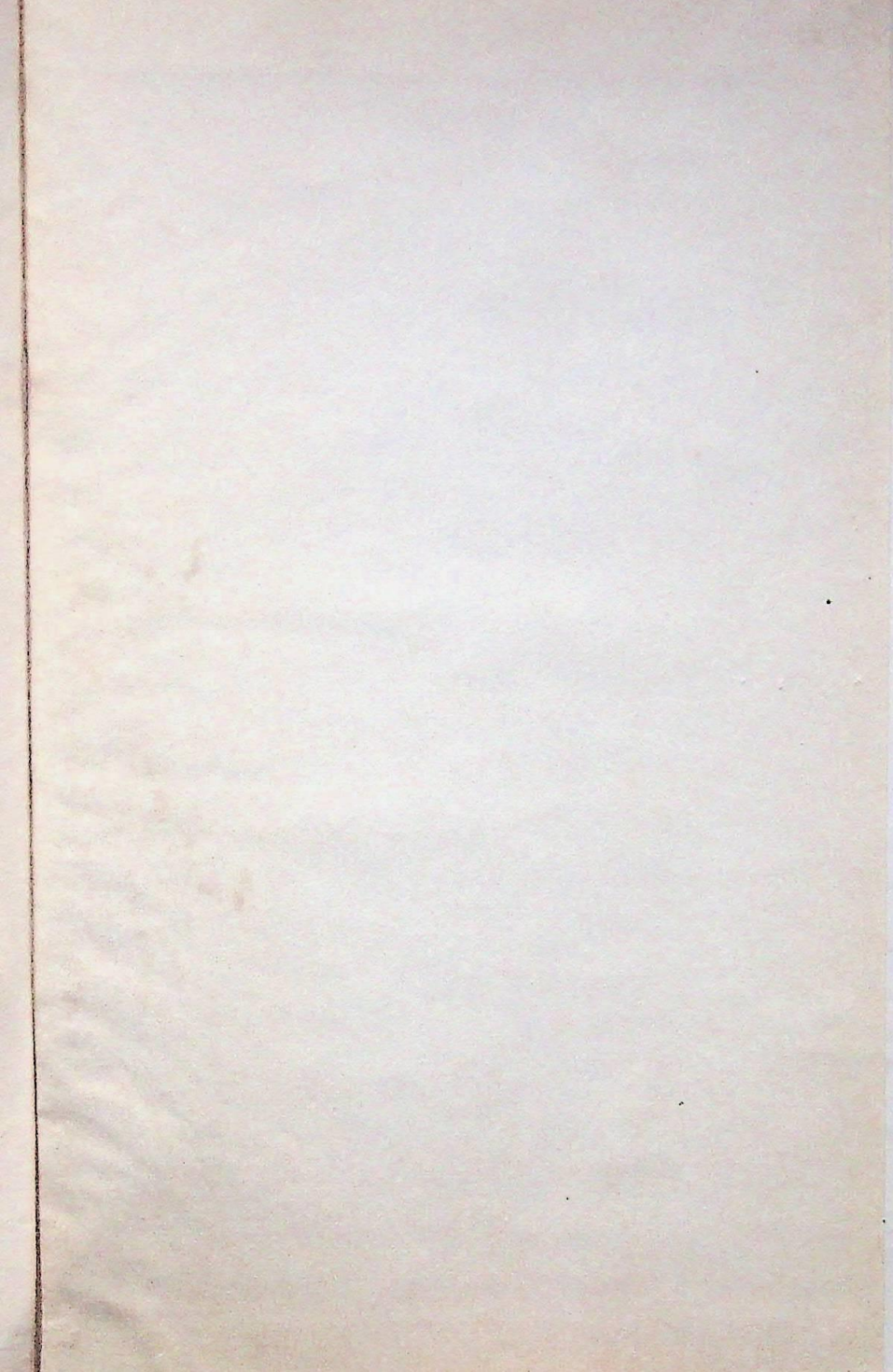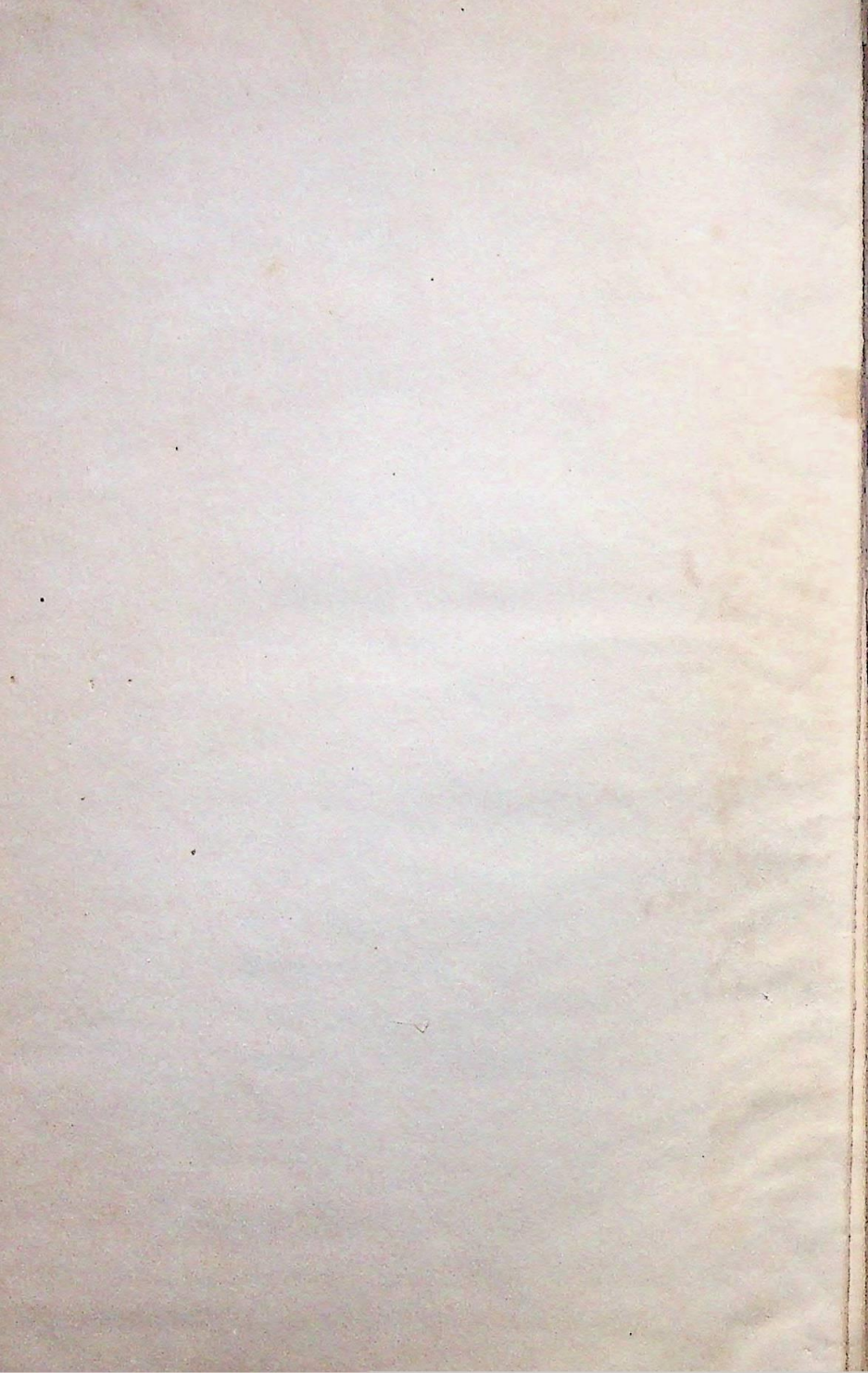
लेखक की अन्य रचनाएँ

छवि के बंधन (कविता-संग्रह)

पलायन (नाटक)

जागते रहो (कविता-संग्रह)

तार सप्तक (सहयोगी काव्य प्रकाशन)

मुक्ति मार्ग. (कविता-संग्रह)

सेतु बन्धन (पद्य-रूपक)

सने फूल खिलाये ! (बालोपयोगी)

र खाइँ बढ़ती गई (रेडियो-नाटक)

अप्रस्तुत मन ! (कविता-संग्रह)

नगेन्द्र के श्रेष्ठ निबन्ध (सम्पादन)

धारा (टैगोर के नाटक का अनुवाद)

ाज के फूल (तुक्तकों का संग्रह)

ी लहरों की बाँसुरी (उपन्यास)

•

प्राप्ति-स्थान

लोकभारती प्रकाशन

१५-ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-१